

□ कन्हैयालाल गौड़
एम. ए. साहित्यरत्न,
(उज्जैन)

जैन परम्परा के व्रत/उपवासों का आयुर्वैज्ञानिक वैशिष्ट्य

जीवन का नीतियुक्त आचरण ही मनुष्य का चारित्र्य कहलाता है। चारित्र्य का संगठन सदाचार से ही होता है। पर सदाचार के लिये यह ज्ञान होना चाहिए कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है तथा इस ज्ञान से अच्छे आचरणों को ग्रहण करके बुरे आचरणों को त्याग देना चाहिए। इस विधि को जैनधर्म में सम्यक्-चारित्र्य का ग्रहण कहा गया है। इस सदाचरण अथवा सम्यक्-चारित्र्य के लिए ग्रहण करने और त्यागने योग्य क्या है? याज्ञवल्क्य स्मृति के आचार नामक अध्याय में कहा गया है कि—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।

दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्म-साधनम् ।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना) पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, परोपकार, दया, मन का दमन और क्षमा। यह नौ बातें सबके लिए धर्म का साधन है। इसी प्रकार जैन परम्परा में बारह व्रत बताये गये हैं और इन बारह व्रतों को धारण करने से मनुष्य सदाचारी बन सकता है। इन व्रतों को धारण करने वाले के हृदय में व्रत धारण करते समय जो उच्चाभिलाषाएँ होती हैं, उनके पालन की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिए और जब अपने धारण किये हुये व्रत को वह यथोचित प्रकार से पाल सकता है, तभी सच्चारित्र्य में उत्तरोत्तर आगे

बढ़ सकता है और धीरे-धीरे सच्ची मानवता उसमें आने लगती है। सच्चारित्र्य से स्वास्थ्य में भी वृद्धि होती है।

वैदिक परम्परा में धर्म के नौ साधन बताये गए हैं और जैन परम्परा में बारह व्रत। इन व्रतों को धारण किये बिना सुचरितवान अथवा सुचारित्र्यवान आयुष्मान/स्वस्थ नहीं बन सकता, रह सकता। जैन परम्परा में कहे हुए बारह व्रतों में प्रारम्भिक पाँच अणुव्रत, लघुव्रत कहलाते हैं। वे सच्चारित्र्य-वान, आयुष्मान होने वाले जिज्ञासुओं के लिए ही हैं। बारह व्रतों में प्रथम अहिंसा व्रत के विषय में कहा—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,

उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ।

प्राणा दशैते भगवद्भिर्रुक्ता,

स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥

अर्थात्—पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—यह दस प्राण कहलाते हैं और इन प्राणों का वियोग करना ही हिंसा कही जाती है। हिंसा जनित पदार्थ जीवों के इन दस प्राणों का वियोग करने से ही उत्पन्न होते हैं और इसलिए इन वस्तुओं का त्याग अणुव्रत रूप से अहिंसा की प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाले को भी करना योग्य है।^१

१ कर्तव्यकौमुदी द्वितीय ग्रन्थ (खण्ड १-२) रचयिता भारतभूषण शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज पृ. ३०-३१

अहिंसा का मार्ग प्रदर्शित करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—सर्व प्राणों, सर्वभूतों, सर्व-जीवों और सर्व सत्वों को नहीं मारना चाहिये, न पीड़ित करना चाहिए और न उनको मारने की बुद्धि से स्पर्श ही करना चाहिए।

प्रत्येक जीव स्वतन्त्र होना चाहता है, बन्धन से मुक्ति चाहता है, स्वस्थ एवं प्रसन्न रहना चाहता है। अहिंसा उसकी इस इच्छा की पूर्ति का अचूक साधन है। सत्यशील व्रत आदि की माता मानी गई है—अहिंसा। जितने भी यम, नियम, व्रत, आराधना, उपासना आदि के विधान धर्म-शास्त्रों में मिलते हैं, उन सबके मूल में अहिंसा है।

अहिंसा जहाँ मानव को विश्वमैत्री एवं विश्व-बन्धुत्व का पाठ पढ़ाती है वहाँ आत्मा पर आच्छा-दित कर्म समूह को भी नष्ट करती चलती है और मोक्ष द्वार को निकट लाती है।^१

उत्तराध्ययन में अहिंसा की परिभाषा की है। मन, वचन, काय तथा कृत-कारित और अनुमोदन से किसी भी परिस्थिति में त्रस, स्थावर जीवों को दुःखित न करना अहिंसा महाव्रत है।

व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग एवं उपयोग अव्यवहार्य नहीं है।

अहिंसा समस्त प्राणियों का विश्राम-स्थल है, क्रीड़ा भूमि है और मानवता का शृंगार है। अहिंसा का सामर्थ्य असोम है।^२

(२) सत्य व्रत—मन, वचन और काया इन तीनों करणों से असत्य का सेवन न करना ही सत्य व्रत कहलाता है। सत्य व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को असत्य का त्याग करना चाहिए। शुक्र

नीति में भी वाचिक पाप के रूप में केवल असत्य-वाद झूठ बोलने को ही नहीं माना; चुगली, कठोर भाषण आदि को भी वाचिक पाप कहा गया है।

हिंसा स्तेयामन्यथाकामै,
पैशुन्यं परुषानूते।
संभिन्नालापाव्यापा-
दमभिध्या - दृग्विपर्ययम् ॥

अर्थात् हिंसा, चोरी तथा अगम्यागमन—यह तीन कथित पाप हैं और पर द्रोह का चिन्तन पर-धन की इच्छा और धर्म में दृष्टि का विपर्यय—यह मानसिक पाप है। सत्य शब्द का शास्त्रीय अर्थ 'सद्भ्यो हितं सत्यम्' अर्थात् जो सज्जनों के लिए हितकारक है वह सत्य है, इसके लिए 'न सत्यमपि भाषेत पर पीडाकरं वचः' अर्थात् जिस बात से दूसरों को दुःख हो, आत्मा का क्षय हो, सत्य होने पर भी ऐसी बात न बोलनी चाहिए।

(३) अस्तेय व्रत—किसी की कोई भी वस्तु घर में पड़ी हो या मार्ग में या वन में गिर गई हो तो उसके मालिक की आज्ञा के बिना चोरी के विचार से मन, वचन और काया इन तीनों करणों से उसे उठाना न चाहिए और न किसी के द्वारा उठवाना चाहिए और न चोरी के काम में किसी प्रकार सहायता न करनी चाहिए—इसका नाम दत्त व्रत—अस्तेय व्रत है। यह व्रत बुद्धिमान मानव को पूर्ण आयु प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को अवश्य मानना चाहिए।

जैन-धर्म में इसे अदत्तादान कहते हैं। अदत्त यानी किसी का न दिया हुआ और आदान यानी ग्रहण करना—किसी का न दिया हुआ ग्रहण करना, यही व्रत की दृष्टि से चोरी है। और चोरी का

१ दैनिक त्रिगेडियर १२ नवम्बर ८५ लेख भगवान महावीर की शिक्षा में विश्व कल्याण के सूत्र—ले. महासती श्री उमरावकुंवरजी अर्चना।

२ मुनि द्वय अभिनन्दन ग्रन्थ १९७३ लेख जैन धर्म का प्राण तत्व अहिंसा पृ० ११८-१२० ले. साध्वी श्री पुष्पलता जी।

माल अथवा वस्तु का उपभोग करने से आयु घटती है। स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। अस्तेय व्रत की व्याख्या करते हुए कहा है—

आहृतं स्थापितं नष्टं विस्मृतं पतितं स्थितम् ।
नाददीताऽस्वकीय स्वमित्यस्तेयमणुव्रतम् ॥

अर्थात् हरण करके लाया हुआ, रखा हुआ, खोया हुआ, भूला हुआ, गिरा हुआ या रहा हुआ किसी दूसरे का धन ग्रहण न करना—यह अस्तेय नाम का अणुव्रत है। जैन परम्परा में पांच अतिचार कह गये हैं, इन अतिचारों को त्याग कर अस्तेय व्रत ग्रहण करने का निर्देश शास्त्रकार देते हैं। वे अतिचार इस प्रकार हैं—

स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं वैरुद्धमामुकम् ।
प्रतिरूप क्रियमानान्यत्वं वा स्तेय संश्रिता ॥

अर्थात् चोर को आज्ञा देना, चोरी का द्रव्य लेना, राजा की ओर से निषेध किए हुए कामों को करना, किसी एक वस्तु में, दूसरी वस्तु मिलाकर बेचना और झूठे बांट रखना—यह सब अस्तेय व्रत के दोष हैं।^१

(४) ब्रह्मचर्य व्रत—यदि मन भली-भाँति दृढ़ हो तो सर्वथा ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहिए। और यदि दृढ़ वृत्ति न हो तो स्वदार संतोष वृत्ति रखनी चाहिए।

विषयाभिलाषा जब तक जिस काल तक उत्पन्न होती है, तभी तक उसका दमन करना हितावह है—सच्चा व्रत है। व्रत ग्रहण करने से मन और वाणी का यह मार्ग भी बन्द हो जाता है और जब यह दोनों मार्ग बन्द हो जाते हैं तभी ब्रह्मचर्य व्रत का आध्यात्मिक लाभ—इन्द्रिय दमन का परम लाभ प्राप्त होता है।

पर-नारी के सेवन से जैसी शारीरिक और आत्मिक हानियाँ होती हैं, वैसी ही हानियाँ अति

स्त्री सेवन और विषय-क्रोड़ा से होती है। आयुर्वेद के 'भाव-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में कहा गया है।

शूल कास ज्वर श्वास कादर्य पाड्वा मय क्षयाः ।
अति व्यवाया ज्जायन्ते रोगाच्चा शेष कादवः ॥

अर्थात्—अधिक स्त्री सेवन करने से शूल, कास, ज्वर, श्वास, कृशता, पांडुरोग, क्षय और हिचकी आदि रोग होते हैं। इसी प्रकार आसनादि के द्वारा की जाने वाली अनन्त क्रीड़ाएँ भी विषय वृत्ति को बढ़ाने वाली और शरीर तथा आत्मा का अहित करने वाली हैं।

ब्रह्मचर्य बन्द द्वार की अर्गला की आवश्यकता तो पूरी करता है। पर इस व्रत के बिना अनेक चतुर मनुष्य भी विषय की अन्धकारमयी खाई में पड़े और ख्वारो खराब हो गये हैं। कहा भी है—

विषयार्तं मनुष्याणां दुःखावस्था दश स्मृताः ।
पापान्यपि बहून्वत्र सारं किं मूढ पश्यसि ॥^२

अर्थात्—विषय पीड़ित मानव की दस दुःखद अवस्थाएँ होती हैं और उनमें अनन्त पाप समाविष्ट है। इन दस अवस्थाओं में दूसरी चिन्ता (८) रोगोत्पत्ति (९) जड़ता (१०) मृत्यु-मुख्य हैं। ये सभी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं। शरीर में रोगोत्पत्ति हो जाने पर अन्त में वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अथर्ववेद में इसका महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते - ॥

११५।१६

अर्थात्—ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही शिष्य को अपने शिक्षण एवं निरीक्षण में लेने की योग्यता सम्पादन करता है।

प्रो. एल्फ्रेड फोर्नियर ब्रूशेल्स नगर में १९०२

१ कर्तव्य-कौमुदी [खण्ड १-२] पृ. ३८-३९

२ कर्तव्य कौमुदी खण्ड १-२ पृ. ४६

ई० में हुई संसार भर के बड़े-बड़े डाक्टरों की सभा में स्वीकृत हुए इस प्रस्ताव को उद्धृत करते हैं कि—“नवयुवकों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि ब्रह्मचर्य के पालन से उनके स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं पहुँच सकती वरन् वैद्यक और शरीर शास्त्र की दृष्टि से तो ब्रह्मचर्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका बड़ी प्रवृत्तता से समर्थन किया जाना चाहिये।”¹

नूतन जीव शास्त्र के प्रसिद्ध लेखक डॉन काउ-एन एम. डी. कहते हैं—“ब्रह्मचारी को कभी ज्ञात ही नहीं होता कि व्याधिग्रस्त दिवस कैसा होता है। उसकी पाचन शक्ति सदैव नियमित होती है। उसकी वृद्धावस्था बाल्यावस्था जैसी ही आनन्दमयी होती है।”

डा० जटाशंकर स्वानुभव के आधार पर कहते हैं—“जिन रोगियों ने चिकित्सा के दौरान ब्रह्मचर्य पालन किया था, वे शीघ्र ही रोग मुक्त हो गये थे, और उनके रोग जनित कष्ट दायक चिन्ह अल्प कष्ट दायक हो गए थे।”

ब्रह्मचर्य पथ को अपनाये बिना कोई भी व्यक्ति अपने उत्कर्ष, जीवन की महत्ता एवं सुख शांति को प्राप्त नहीं कर सकता।²

५. परिग्रह मर्यादा व्रत—धन, धान्य, भूमि, घर, पशु, नौकर चाकर आदि अनेक वस्तुएँ जगत में विद्यमान हैं। उनकी मर्यादा सीमा बाँधना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है। तृष्णा को जीतने के लिए यह व्रत अति ही उपयोगी है। तृष्णा छिन्धि भज क्षमा जहि मदम् इत्यादि—तृष्णा को काट डाल, क्षमा धारण कर, मद त्याग। तृष्णा को काट डालने के लिये परिग्रह की मर्यादा का व्रत उपयोगी है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अन्त तक वह संसार के काम-क्रोध, लोभ, मद, मोह तथा

मत्सर रूपी षड्रिपुओं से घिरा रहता है और घिरे हुये ही मौत के मुख में चला जाता है। आर्यविज्ञान कहता है यदि मानव को स्वस्थ रह कर आत्मिक शांति प्राप्त करनी है तो तृष्णा को त्याग कर परिग्रह-मर्यादा व्रत का पालन करना चाहिये।

तृष्णा का निरोध भी सन्तोष प्राप्ति का द्वार है। और संतोष प्राप्ति के मन्दिर में प्रवेश करने पर ही परार्थ साधना करने की तत्परता मनुष्य में आती है। पाश्चात्य वैज्ञानिक श्री कूपर का कथन है कि—

It is content of heart

gives nature power to please

The mind that feels no smart

En-livens all it—sees.

अर्थात्—जो हृदय संतुष्ट है, वह प्रकृति में आनन्द देखता है और जो मन चंचलता असंतुष्टता से रहित है। उसे सर्वत्र आनन्द का ही प्रकाश दृष्टि गोचर होता है।³

परोपकार करने की इच्छा वाले और अपना जीवन सुख सन्तोष से व्यतीत करने तथा चित्त की निवृत्ति का आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने की कामना वाले मनुष्य को अपने सब संयोगों पर विचार करके अनेक प्रकार के परिग्रहों की मर्यादा निर्धारित करना उचित है।

(६-७) दिशाओं और भोग्य वस्तुओं की मर्यादा निर्धारित करने के व्रत—पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओं का मान करने से सुख देने वाला छठा व्रत निष्पन्न होता है और भोग के साधन वस्त्रा-भूषण, खान-पान, औषधि आदि की मर्यादा निर्धारित करने से सातवाँ व्रत सिद्ध होता है। लकड़ियाँ जलाकर कोयले बनाना, वनों को कटवाना आदि प्रत्येक पापजनक कर्मादान रूपी कहे जाने वाले पंद्रह

१ ब्रह्मचर्य विज्ञान—ले. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी. पृ. २२-२३ से उद्धृत

२ वही पृ. ४३

३ कर्तव्य कौमुदी खण्ड १-२ पृ. ६१.

प्रकार के कामों का त्याग भी सातवें व्रत में किया गया है ।

इन दोनों व्रतों को धारण करने वाला एक प्रकार की तपश्चर्या में ही प्रवेश करता है—ऐसा कहा जा सकता है । इससे गमन की वृत्ति का और भोग वस्तुओं के उपभोग की लालसा का अवश्य निरोध होता है । कहा है—

जगदा क्रम प्रमाणस्य प्रसरत्लोभ वारिधेः ।
स्खलनं विद्धे तेन येन दिग्विरतिः कृता ॥

अर्थात्—जो मनुष्य इस दिग्विरति व्रत को ग्रहण करता है, वह इस जगत के आक्रमण करने वाले लोभ रूपी महासमुद्र का स्खलन कर देता है—यह सत्य है ।

परिग्रह की मर्यादा निर्धारित करने से तृष्णा का निरोध होता है, शरीर स्वस्थ रहता है, पर जब तक भोगोपभोग के पदार्थों की मर्यादा निर्धारित न की जाय, तब तक मन तथा इन्द्रियों का पूरा निरोध नहीं होता ।¹

(८) निष्प्रयोजन पाप निवृत्ति रूप व्रत—अप-ध्यान, प्रमाद, हिंसक-शस्त्र संचय और पापोपदेश यह चार अनर्थ दण्ड कहे जाते हैं । इनसे निवृत्त होना अर्थात्—चाहे सम्पत्ति की हानि हो, चाहे पुत्रादि की मृत्यु हो जाय, फिर भी मन में तनिक भी सोच न करना, जीवन रक्षणादि के काम में तनिक भी आलस्य न करना, प्राण नाशक शस्त्र और आयुधों का संग्रह न करना तथा किसी भी पापानुष्ठान के विषय में किसी को प्रेरित न करना-कर्म के समूह को रोकने वाले इस व्रत का परि-लक्षण है । इस व्रतको ग्रहण करने से मानव निरर्थक पापों से दूर रहने की वृत्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है, चित्त प्रसन्न तथा शरीर निरोग रहता है ।

(९) सामायिक व्रत—बाह्य प्रवृत्ति में राग-

१-२-३ वही पृ. ६४, ६६, ६६, ७१

द्वेष अथवा कषाय के कारण अपने आत्मा की जो परिणति हुई हो, उसे दूर करने के लिये समभाव उत्पन्न करने वाले सामायिक व्रत का ग्रहण करना चाहिये । दो घड़ी शुभ ध्यान पूर्वक एक स्थान पर बैठकर शुभचिंतन, धर्म विचार और वृत्ति को उच्च-तर बनाने वाले मनन में समय व्यतीत करने को सामायिक कहते हैं ।

यदि मानव विचित्र-विचित्र वृत्तियों में जीवन भर भटकता रहे तो फिर उसके मन की अधोगति ही होती जाती है । ऐसे व्यवहार रूपी खारे समुद्र में तो सम+आय+इक=समत्व का लाभ कराने वाली सामायिक की आवश्यकता जैन परम्परा में ही नहीं वरन् अन्य धर्म परम्परा के धर्माचार्यों ने भी चित्त को समता का परिचय कराने के लिए इस की आवश्यकता बतलाई है । गीता में श्री कृष्ण ने कहा है—‘मन ही बंध और मोक्ष का कारण है ।’ अतः मन की अधोगति न हो, इसके लिए उसे समता में लीन करने का यत्न करना आवश्यक है । कहा है—

तप्येद्वर्ष शतैर्यश्च, एक पाद स्थितो नरः ।
एकेन ध्यान योगेन, कलामार्हति-षोडशीम् ॥

अर्थात्—ध्यान योग रूपी सामायिक का मूल्य देह दमन से अधिक आँका गया है । आगे कहा है कि—

दिवसे दिवसे लक्खं देई सुवण्णस्स खंडियं एगो ।
इयरो पुण सामाइयं करेइ न पहुणए तस्स ॥

अर्थात्—एक पुरुष दिनों दिन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करे और दूसरा सामायिक करे, स्वर्ण का दान सामायिक की बराबरी नहीं कर सकता । चित्त वृत्ति को स्थिर—सम करना, यह एक मानसिक योग का प्रकार है ।³

वृत्ति को पतित होने से रोक कर, अभ्यास से उसे स्थिर भी किया जा सकता है । गीता में श्री कृष्ण ने कहा है—

अथ-चित्तं समाधातुं न शक्नोपि भवि स्थिरम् ।
अभ्यास-योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ! ॥

सामायिक का चित्त को स्थिर रखने का लाभ भी अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

चित्त की शुद्धि के लिए सामायिक उपयोगी है । पर प्रातःकाल मन की समता के लिए जितना लाभदायक है उतना दूसरा समय नहीं, इसीलिए प्रातःकाल में सामायिक को तो 'अवश्यं विदद्यात्' ऐसा कहा है । उपासना के द्वारा मन और तन के दोषों को मिटाने की चिकित्सा करने वाले डा० एण्टन सिक लेयर और डा० मेकफेडन ने भी क्षुधित अवस्था में मन को आध्यात्मिक लाभ पहुँचाने वाली घटना का विशद वर्णन किया है ।¹

(१०) देशावकाश-व्रत—छठे व्रत में दिशाओं का जो परिमाण बांधा गया हो, उसे संकुचित करके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से यदि आदरपूर्वक उसकी पुनः सीमा बाँधी जाय और इस प्रकार आश्रय का निरोध किया जाय तो उसे मुनिगण देशावकाश नाम का व्रत कहते हैं । वह व्रत चार घड़ी, एक रात या एक दिन तक इच्छानुसार ग्रहण करना चाहिए और उसे छः कोटि से ठीक-ठीक पालन करना चाहिए ।

इस व्रत से पाप की प्रवृत्ति में मानव संयम रखना सीखना है और ज्यों-ज्यों वह अपने गमना-गमन आवश्यकताओं की दिशाओं को कम-से-कम करता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अन्तर्मुखता को विकसित होने का अवसर मिलता है ।

(११) पौषध-व्रत—एक प्रातः से लेकर दूसरे प्रातः तक चौबीस घण्टे का उपवास करके सांसारिक वस्त्र, आभूषण, माल्य आदि को त्यागकर, पाप के सभी कर्मों को छोड़कर नियमपूर्वक धर्म-स्थान में एक अहोरात्रि पर्यन्त धर्म ध्यान-परायण

होकर सद्विचार में लीन रहना पौषध व्रत कहलाता है । 'पौष धर्मस्य धत्ते यत्तद् भवेत्पौषधं व्रतम्' अर्थात् जिसमें धर्म की पुष्टि हो, वह पौषध-व्रत कहलाता है । मुमुक्षु-गृहस्थ को पर्वदिनेषु अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या आदि पर्व-तिथियों में इस व्रत को ग्रहण करना चाहिए और निर्दोष-रीति से आत्मा की विशुद्धि के साथ पालन करना चाहिए ।

(१२) अतिथि दान व्रत—जिस महात्मा ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया हो, वह अतिथि कहलाता है । ऐसे अतिथि हमारे आंगन में आ पहुँचें, तो उन्हें आदर के साथ अन्न-वस्त्रादि का दान करना । इस व्रत को अतिथि सविभाग व्रत कहते हैं ।

अतिथि ऐसा सन्त होना चाहिए कि जिसे धन संग्रह करने की इच्छा न हो, केवल शरीर की रक्षा के लिए जीवन की आवश्यकताएँ एक दिन में एक दिन के योग्य ही हों ।

अतिथि सत्कार में मुख्यतः अन्नदान का ही महत्व समझा जाता है । चूँकि अन्न को प्राण माना गया है—'अन्नं वैः प्राणः' एवं जल को जीवन कहा है, इसीलिए किसी अतिथि का अन्न-जल से सत्कार करने का अर्थ होता है उसे प्राण एवं जीवन का दान किया जा रहा है ।²

जो भी ज्ञान, चिन्तन की दशा में उन्मुख होता है, विचारों की गहराई में, उतरता है वह विज्ञान कहलाता है । विज्ञान का अर्थ है—विशेष जानकारी ।³ इस दृष्टि से, जैन परम्परा के बारह व्रतों का आयुर्वैज्ञानिक वैशिष्ट्य स्वतः सिद्ध हो जाता है । फिर भी शरीर ही धर्म का मुख्य साधन है—इसलिए शरीर को संभालकर रखना आवश्यक है । शरीर को स्वस्थ रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है ।

१ वही पृष्ठ ७३

२ साधना के सूत्र : प्रवचनकार युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी पृ. २३६ अतिथि सेवा

३ वही पृ० २०६

जो सन्त-महात्मा-गृहस्थ-साधु इन बारह व्रतों को धारण कर नियमपूर्वक उनका पालन करते हैं—वे स्वस्थ एवं चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान सुन्दर एवं सुडौल हो जाता है, उनके शारीरिक अवयव सुदृढ हो जाते हैं, वे तेजस्वी और अति शक्तिशाली होते हैं। भोजन के अपच होने की शिकायत नहीं होती और न ही खट्टी डकारें आती हैं। रक्त-चाप कम-ज्यादा नहीं होता। नाड़ी-संस्थान, आमाशय और हृदय की गति सुचारु रूप से अपना-अपना काम करती हैं। शरीर में रक्त-संचालन (Blood Circulation) बिना किसी रुकावट होता है जिससे चेहरा प्रसन्नता से खिला रहता है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन ऋषि मुनि दीर्घायु होते थे, उन्हें किसी प्रकार की औषधि एवं उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। व्रत-ग्रहण करने से आहार में कमी आती है। आयुर्वेद विज्ञान की सूक्ति है—स्वल्पाहारी स जीवति—स्वल्प आहार करने वाला दीर्घ-जीवी होता है।

जो मनुष्य हिताहारी हैं, मिताहारी एवं अल्पाहारी हैं उन्हें किसी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं ही अपने वैद्य हैं, स्वयं ही स्वयं के चिकित्सक हैं।¹ दस प्रकार के सुखों में—आरोग्य पहला सुख माना गया है। आरोग्य ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, सबसे बड़ा लाभ है। महर्षि धन्वन्तरि ने स्वास्थ्य की परिभाषा करते हुए लिखा है जिसके देह में वात-पित्त-कफ तीनों दोष, अग्नि, रस, रक्त आदि सातों धातुओं की मल क्रिया ये सब सम हैं, तथा जिसकी आत्मा, मन एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वह स्वस्थ कहलाता है।² व्रत से समस्त प्रकार के विकार दूर होते हैं।

शारीरिक वर्चस्व/बौद्धिक प्रतिभा/स्मरण शक्ति (ज्ञान तन्तु) का विकास होकर जीवन में उत्कृष्ट सफलता मिलती है।

उपवास—तप के इच्छुक को पहले कभी-कभी

उपवास करके सतत् तपस्या आरम्भ करनी चाहिए, पश्चात् एक-एक दिन के अन्तर से उपवास करना चाहिए और ज्यों-ज्यों शक्ति बढ़ती जाय, त्यों-त्यों तपस्या में वृद्धि करते जाना चाहिए और अन्त में संस्तारक तक पहुँचना चाहिए। यदि नित्य या एक-एक दिन के अन्तर से भी उपवास की शक्ति न हो तो प्रतिदिन ऊनोदरी तप करना चाहिए। यानी जितना भोजन नित्य किया जाता है, उसको कम कर देना चाहिए। वस्त्रादि उपकरणों को भी घटा देना तथा क्रोधादि कषायों में भी कमी करनी चाहिए।

इन्द्रियों—वृत्तियों पर कठोर प्रहार करके उन्हें ग्लान बना देना तप का हेतु नहीं है और न इससे तप सिद्ध होता है।

रस रुधिर मांस-भेदोऽस्थिमज्जा

शुक्राण्यनेन तप्यन्ते ।

कर्माणि चाशुभानीत्य तस्तपो

नाम नैरुक्तम् ॥

अर्थात्—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा अशुभ कर्म इससे तपित हो जाते हैं, इसलिए इसका नाम तप रखा गया है। शक्ति से बाहर, दबते हुए या जबदस्ती सहन करते हुए उपवासादि तपस्या करना बिल्कुल अनिष्टकारक है, इसीलिए कहा है—

सो अ तवो कायव्वो जेण मनोमंगलं न चित्तेइ ।

जेण न इंदिय हाणो जेण जोगा न हायंति ॥

अर्थात्—जिस तप के करने से मन दुष्ट न हो, इन्द्रियों की हानि न हो, और योग भी नष्ट हो, वही तप करना चाहिए। इस प्रकार शान्ति समाधि पूर्वक तप करना और उसमें आगे बढ़ने के लिए धीरे-धीरे कदम बढ़ाना चाहिए। पहले कई दिनों में उपवास करना चाहिए। फिर एक-एक दिन के अन्तर से करना चाहिए और बाद में एक साथ दो,

१-२. वही पृष्ठ २२६-२२७।

४२२

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

फिर तीन, फिर चार इस प्रकार धीरे-धीरे आगे बढ़कर, ज्यों-ज्यों तप करने की शक्ति बढ़ती जाये, त्यों-त्यों छहों प्रकार के बाह्य तप सिद्ध करना चाहिए, अन्तिम संस्तारक तक पहुँचना चाहिए। इस विधान में सतत् शब्द का हेतु पूर्वक व्यवहार किया है। अनेक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया है। इसमें प्रमुख डॉ० एडवर्ड हुकर ने अनेक प्रयोगों के पश्चात् अपना अभिमत प्रकट किया है कि—उपवास से मानसिक बल बिलकुल नष्ट नहीं होता। कारण कि मस्तिष्क का पोषण करने वाला तत्व मस्तिष्क में ही उत्पन्न होता है। उसका पोषण करने के लिए शरीर के और किसी भाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसके लिए अन्न की भी आवश्यकता नहीं है, कारण कि वह स्वतः अपना पोषण करता है और अपना काम नियमित रूप में किये जाता है।

जीवन की समस्त शक्तियों का उद्भव मस्तिष्क में ही होता है। जब मस्तिष्क काम करने से थक जाता है, तब उसकी थकान भोजन से दूर नहीं होती, विश्राम से होती है। निद्रा का विश्राम, मस्तिष्क का उत्तमता से पोषण करता है और दिन में किये हुए परिश्रम से विगलित हुए शरीर में—रात्रि के विश्राम के कारण प्रातःकाल ताजगी और प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है।

जब मनुष्य मानसिक चिन्ता या राग-द्वेषादि विकारों से घिरा रहता है तब उसकी भूख सबसे पहले नष्ट हो जाती है। और शरीर में जब कोई रोग-विकार उत्पन्न हो जाता है, तब भी भूख मर जाती है। भूख का मर जाना, रोग या विकार का चिह्न है, मानव की प्रकृति का संघटन कुछ ऐसा है कि रोग या विकार को मिटाने के लिए ही भूख का नाश या उपवास, उपचार के लिए निर्मित हुए हैं। इसी कारण आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थों में भी स्पष्ट कहा गया है कि शरीर मन और आत्मा की शुद्धि करने वाला उपवास रूपी तप एक बड़े दिव्योषधि है,

आयु को बढ़ाने वाला है। जैन परम्परा में उपवास अनशन तप के दो मुख्य प्रकार बतलाये गये हैं— एक स्वल्प समय के अनशन का और दूसरा जीवन भर के अनशन का। इन दोनों के अनेक उपभेद हैं। सामान्य उपवास चाहे कितनी संख्या के हों, वे स्वल्प समय वाले कहे जाते हैं और जीवन भर का अनशन संस्तारक कहा जाता है। मन को बिना ग्लान किये, सद्बुद्धि से, कर्मबन्धन तोड़ने के उत्साह से जीवन भर का अनशन ग्रहण करना, उल्लास-पूर्वक मृत्यु को आलिगन करने का कार्य है। यह मन की परम उच्च दशा है और इससे इस तप का अन्तिम प्रकार माना जाता है।

आगे कहा गया है यदि पहले समग्र पूर्ण उपवास कठिन प्रतीत हों और इसके कारण चाहे कोई ऊनोदरी तप करे, परन्तु जिन्होंने उपवास करने की शक्ति को विकसित किया है, उन्हें ऊनोदरी तप, साधारण उपवास से कठिन प्रतीत होता है और ऊनोदरी तप को जिसे विद्वानों ने उपवास के बाद स्थान दिया है वह उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कठिनता का विचार करके ही दिया जाता है। उपवास में भूख मर जाती है और इसमें ऊनोदरी के समान परीषह नहीं सहन करना पड़ता। एप्टन सिंक लेयर नामक वैज्ञानिक ने प्रतिदिन एक छोटा फल खाकर कई दिनों तक ऊनोदरी करने का निश्चय किया था, परन्तु इससे उपवास से भी अधिक कष्ट मालूम होने लगा और इससे उन्होंने फल खाना छोड़कर पूर्ण उपवास करना ही पसन्द किया। कहा है—

कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधोयते ।

उपवासः स विज्ञेयः शेषः लङ्घनकं विदुः ॥

अर्थात् जिस उपवासादि में कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाय, उसे उपवास समझना चाहिए, शेष लंघन है।

व्रत उपवासों से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का विकास सम्भव है। इनसे किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं है।¹

१ कर्तव्य कौमुदी [खण्ड १-२] पृष्ठ ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१ ।